

गांधी की समाज दृष्टि और शिक्षा चिन्तन

नन्दकिशोर आचार्य से विश्वंभर की बातचीत

अहिंसा, सादगी और बराबरी के मूल्य आधुनिक पूंजीवादी समाज में जब अपनी अर्थवत्ता खोते जा रहे हैं, ऐसे में इन मूल्यों पर आधारित गांधी चिन्तन पुनः अपनी प्रासंगिकता अर्जित करता जा रहा है। इस साक्षात्कार में आचार्य जी कहते हैं, वर्तमान औद्योगिकृत समाज मनुष्य को मूलतः ऐन्द्रिक अस्तित्व बनाता चला जा रहा है जबकि मनुष्य एक नैतिक अस्तित्व है और उसकी चेतना का विकास नैतिक दिशा में होना चाहिए है। उनका मानना है कि गांधी चिन्तन मूलतः उपभोगपरक, उपभोगमूलक आधुनिक सभ्यता का विरोध करता है। बिना समग्रता में विचार किए उसके किसी एक पक्ष को लागू नहीं किया जा सकता। गांधी का शिक्षा चिन्तन ज्ञान एवं श्रम के बीच एक संतुलन कायम करता है। यही दृष्टि गांधी के शैक्षिक चिन्तन का आधार है।

प्रश्न : यह 'हिन्द स्वराज' का शताब्दी वर्ष है। पिछले 100 सालों में गांधी चिन्तन और हिन्द स्वराज पर काफी चर्चा हुई है। आपने भी अपने लेख में एडम स्मिथ की 'द वैल्थ ऑफ नेशन्स', 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' और 'हिन्द स्वराज' को आधुनिक समय की प्रेरक किताबें कहा है। हिन्द स्वराज व्यापक फलक पर आधुनिक सभ्यता की आलोचना करती है। स्वयं गांधी जी ने भी कहा है कि इस किताब में आधुनिक सभ्यता की सख्त टीका की गई है।

मेरा सवाल है कि पिछले 100 वर्षों में आधुनिक समाज जितनी जटिलतर स्थितियों में पहुंच गया है, क्या यह टीका अभी भी उतनी ही प्रासंगिक ठहरती है ?

उत्तर : पहले तो यह समझने की जरूरत है कि 'आधुनिक' शब्द का प्रयोग बहुत से भ्रम पैदा करता है। जब गांधी जी आधुनिकता शब्द का इस्तेमाल करते हैं और अन्य लोग आधुनिकता शब्द का प्रयोग करते हैं, उसमें फर्क हो जाता है। गांधी जिस आधुनिक सभ्यता की बात करते हैं, वह मूलतः औद्योगीकरण से उत्पन्न सभ्यता है और औद्योगीकरण से उत्पन्न यह सभ्यता मूलतः उपभोग पर आश्रित है, क्योंकि यदि अधिक से अधिक उपभोग नहीं होगा तो औद्योगीकरण का आगे विकास सम्भव नहीं है। इसलिए निरन्तर उसका विकास होते चले जाने के लिए कृत्रिम जरूरतें बढ़ाते चले जाने की आवश्यकता होती है। जैसा कि मार्सेल ने कहा था- विकास के लिए जरूरी है कि आप कृत्रिम जरूरतें पैदा करें। इन कृत्रिम मांगों, कृत्रिम जरूरतों का मतलब है, जो जरूरत नहीं है उसको हम पैदा करें। सभी इस बात को जानते हैं कि कोई भी सभ्यता बहुत कुछ अपनी अर्थ व्यवस्था पर निर्भर करती है। उसमें एक जीवन दृष्टि भी होती है लेकिन जिस तरह की अर्थ व्यवस्था आप अपना रहे हैं, वह सभ्यता कृत्रिम जरूरतों को बढ़ाते जाने पर निर्भर करती है, जिसका दूसरे शब्दों में अर्थ होता है कि वह मनुष्य को मूलतः ऐन्द्रिक अस्तित्व बनाती चली जा रही है। मेरी यह मान्यता है और मैं यह समझता हूं कि गांधी जी की दृष्टि में भी यह बात रही है कि मनुष्य की चेतना के विकास में उसको केवल ऐन्द्रिक अस्तित्व बना देना एक प्रतिगामी कदम है। इसलिए मुझे यह लगता है कि जितनी जटिल परिस्थितियां

लेखक परिचय

हिन्दी के जाने-माने चिन्तक, कवि।

प्रकाशन : 'आती है जैसे मृत्यु', 'वह एक समुद्र था' (कविता संग्रह), 'देहान्तर' (नाटक), 'आधुनिक विचार और शिक्षा', 'सभ्यता का वकल्प', 'रंग त्रयी', 'संस्कृति का व्याकरण' आदि।

संपर्क : सुथारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर-334005 राजस्थान

आज बनी हैं, जिन्हें आप आधुनिकता की वास्तविक परिस्थितियां कह रहे हैं, वे सभी उसी का परिणाम हैं। और यह जो समस्त जटिलता बढ़ती जा रही है, वह आर्थिक कारणों से बढ़ती चली जा रही है। इसलिए मेरी राय में यह पुस्तक उस समय की तुलना से भी अधिक ज्यादा आज प्रासंगिक है। इस किताब में बुनियादी बातें कही गई हैं। हमारे लिए यह समझने की आवश्यकता है कि मनुष्य मूलतः एक नैतिक अस्तित्व है या कि मूलतः वह एक ऐन्द्रिक अस्तित्व है ? मनुष्य की चेतना का विकास नैतिक दिशा में होना वांछनीय है अथवा उसको एक उपभोक्ता, ऐन्द्रिक उपभोक्ता मात्र बनाना वांछनीय है ? मूल सवाल यह है। अतः जब गांधी जी कहते हैं कि यह आधुनिक सभ्यता की सख्त टीका है तो उनका तात्पर्य इस उपभोगपरक, उपभोगमूलक आधुनिक सभ्यता से है।

प्रश्न : इस पुस्तक के सन्दर्भ में यह बात तो सही है कि यह विश्व भर में विकसित होती औद्योगिक और पूंजीवादी सभ्यता की समस्याओं को सामने रखती है और उनकी तीखी आलोचना करती है लेकिन इस पुस्तक को पढ़ते हुए कई बार लगता है कि गांधी जी का आधुनिकता के प्रति जो दुराग्रह है, क्या वह हमें अतीत के मोह की तरफ नहीं ले जाएगा ?

उत्तर : देखिए, यह मूलतः एक इतिहास दृष्टि का सवाल है। एक इतिहास दृष्टि रेखीय विकास को मानती है। यह इतिहास दृष्टि मानती है कि अतीत कोई ऐसी चीज है जो बीत चुका है, हम उससे आगे निकल आए हैं और जो बीत चुका है उससे हमारा कोई लेना-देना नहीं है। लेकिन एक इतिहास दृष्टि ऐसी भी है जो सनातन मूल्यों पर आधारित है और यह मानती है कि इतिहास में जो परिवर्तन घटित हुए हैं, उन परिवर्तनों को हमें कुछ मूल्यों के आधार पर परखना, समझना चाहिए। देखने की बात यह है, यदि हम यह मानते हैं कि मनुष्य एक विकसनशील प्राणी है तो यह समझने की जरूरत है कि जो चीजें उसके विकास में, उसकी चेतना में पहले आई हैं, क्या उन्हें वह आगे के विकास में छोड़ देगा या उन्हें अनिवार्यतः छोड़ देना चाहिए ? मुझे लगता है कि इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। विकास की प्रक्रिया में जो कुछ गुणात्मक है, सकारात्मक है, हमें उसके साथ चलना चाहिए और जो कुछ नकारात्मक है उसमें से रास्ता निकालकर आगे का विकास करना चाहिए। मैं मनुष्य के विकास की इसे सीधी परिभाषा मानता हूं। इस दृष्टि से अगर देखा जाए तो यह पुस्तक अतीत की ओर नहीं ले जाती है। यह पुस्तक हमारा ध्यान अतीत की उन उपलब्धियों की ओर आकर्षित करती है, जो सकारात्मक हैं, जो मनुष्य के चेतना के विकास में सहायक हैं। इसलिए इसे हम अतीत की ओर ले जाना नहीं कह सकते। मान लीजिए, ऋग्वेद या बाईबल या कुरान या कहीं भी कहा गया है कि मनुष्य को दया करनी चाहिए, उसे करुणावान होना चाहिए, सत्यवादी होना चाहिए; तो क्या वह अतीत मात्र है ? फिर तो उन्हें भी अतीत मानकर छोड़ देना चाहिए। इसलिए व्यवस्था के रूप में यह देखना पड़ेगा कि जो व्यवस्था इन मूल्यों को- सत्य, अहिंसा, करुणा आदि मूल्यों को- विकसित करने में सहयोग करती है, वही अच्छी व्यवस्था है। ऐसी व्यवस्था चाहे वह अर्थ व्यवस्था हो, समाज व्यवस्था हो, राज्य व्यवस्था हो, वही अच्छी मानी जा सकती है; उसे ही वांछनीय माना जा सकता है। ऐसी ही व्यवस्था को अच्छा माना जाता है जो मनुष्य में इन मूल्यों का विकास करने में सहयोग करती हो, न कि इसमें बाधक बनती हो। हमारे लिए यह तय करने की जरूरत है कि जो सभ्यता विकसित हुई है, वह मनुष्य के मूल्यों में विकास करने में सहायक है या बाधक। उसके बाद हम सोचें कि जो उपलब्धि हमने अतीत में अर्जित की थी, उसे आज स्वीकार करें अथवा नहीं। अतीत में बहुत-सी चीजें गलत हुई होंगी। गांधी जी उनका समर्थन नहीं करते। इतिहास की प्रक्रिया में बहुत-सी चीजें आई हैं। संस्कृति मूलतः, जैसा कि डॉ. गोविन्द चन्द पाण्डे कहते हैं, एक आदर्श दृष्टि होती है। व्यवहार में बहुत-सी चीजें ऐसी हो सकती हैं, जिन्हें समाज सिद्ध न कर पाए या समाज धीरे-धीरे उसकी तरफ बढ़े। लेकिन समाज के सामने एक आदर्श होता है, जिसकी तरफ वह बढ़ने की कोशिश करता है। अतः यह अतीत की व्यवस्था में लौटने की बात नहीं है, बल्कि आदर्श दृष्टि को अपनाने की बात है और इसीलिए मैं इसको अतीत की दृष्टि नहीं कहता। मैं उसको सनातन दृष्टि कहता हूं। यह सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों की बात है।

प्रश्न : इस चर्चा में हमारा मुख्य सरोकार 'हिन्द स्वराज' में व्यक्त गांधी के शिक्षा चिन्तन को समझने का है। किसी भी चिन्तन को उसकी समग्रता में ही समझा जा सकता है। किसी भी चिन्तन को उसके सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक चिन्तन से अलग करके नहीं समझ सकते। गांधी के संदर्भ में भी यह बात है कि उनके शिक्षा चिन्तन को उनके समग्र चिन्तन से अलग करके नहीं समझ सकते। मुझे लगता है कि गांधी के सामाजिक चिन्तन से दूर चले आए आज के भारतीय समाज में क्या उनका शिक्षा चिन्तन भी प्रासंगिक है ?

उत्तर : प्रासंगिकता के बारे में अक्सर एक सवाल मैं अपने मित्रों से करता हूँ कि, जिसे आप प्रासंगिक कहते हैं, उसकी अपनी प्रासंगिकता क्या है ? यानी आप किसे प्रासंगिक मानेंगे ? एक आदमी या एक समाज बीमार है तो उसके लिए स्वास्थ्य प्रासंगिक है या उसके लिए बीमारी प्रासंगिक है ? अगर उसके लिए स्वास्थ्य प्रासंगिक है तो गांधी जी इस बीमारी के उपचार का जो रास्ता बता गए हैं, वह प्रासंगिक है। और यदि यह मानते हैं कि बीमारी ही प्रासंगिक है तो उपचार हमेशा अप्रासंगिक रहेगा।

प्रश्न : 'हिन्द स्वराज' को पढ़ते हुए यह स्पष्ट रूप से समझ आता है कि गांधी जी शिक्षा को साक्षरता से अलग करके देखते हैं। किन्हीं विषयों के बारे में जान लेने भर को भी वे वास्तविक शिक्षा नहीं मानते। उनके लिए वास्तविक शिक्षा वही है जो व्यक्ति में नैतिक गुणों का विकास करे, जो सामाजिक जीवन में उपयोगी हो और जो दूसरों के काम आए। 'हिन्द स्वराज' को पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि इसके लिए उनका आदर्श धर्मपरायणता, पुरानी संस्कृति की प्रतिष्ठा और नीति प्रधानता से था। क्या यह आज के समय में हमें आगे ले जाने वाला साबित होगा ?

उत्तर : देखिए, यह घूम फिर कर वही सवाल है। लेकिन मैं यह कहता हूँ कि गांधी जी मनुष्य को किस तरह देखते हैं। शिक्षा, इसे सभी स्वीकार करेंगे, अन्ततः एक व्यक्ति को बनाने की प्रक्रिया है। इसलिए यह तो देखना पड़ेगा कि आप कैसा व्यक्ति चाहते हैं ? क्या आप एक स्वतंत्र व्यक्ति चाहते हैं ? क्या आप नैतिक व्यक्ति चाहते हैं ? क्या आप एक ऐसा व्यक्ति चाहते हैं जिसमें सामाजिकता हो, जो समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करता हो ? या आप एक ऐसा आत्म-केन्द्रित व्यक्ति चाहते हैं जिसका समाज से कोई लेना-देना न हो ? अब प्रश्न उठता है कि गांधी जी सभ्यता किसे कहते हैं ? वे कहते हैं कि सभ्यता का अर्थ है अपने फर्ज का निर्वाह करना। इसका मतलब यह है कि वे ऐसा व्यक्ति चाहते हैं जो अपने फर्ज का निर्वाह कर सके। इसका तात्पर्य यह है कि वे ऐसी शिक्षा चाहते हैं जो मनुष्य को अपने फर्ज का निर्वाह करने में समर्थ बनाए, उसमें फर्ज के निर्वाह का भाव विकसित करे और यदि इसके लिए कष्ट होता है तो उसे सहने की आदत उसमें डाले, उसे सहने का साहस और सामर्थ्य उसे दे। अगर गांधी शिक्षा से यह चाहते हैं तो यह अतीतगामी कैसे है या पीछे ले जाने वाला कैसे है ?

धर्म से भी गांधी जी का तात्पर्य नैतिकता से है। गांधी जी यह कहते हैं कि मेरे लिए नैतिक ही आध्यात्मिक है। यह उनका बड़ा प्रसिद्ध वाक्य है। वे किसी पूजापाठ की बात नहीं कर रहे हैं। वे किसी संप्रदाय के रिवाजों की बात नहीं कर रहे हैं और न ही वे यहां हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म, सिक्ख या जरथोस्ती धर्म जैसे ऐतिहासिक धर्मों की बात कर रहे हैं। गांधी जी के विचार से धर्म अपने मूल अर्थों में, जिसे हम मूल चेतना कहते हैं, एक मूल्य चेतना है। इसकी बात गांधी कर रहे हैं। इसलिए हम ऐसे समाज और समाज में ऐसे व्यक्ति का विकास चाहते हैं जो नैतिक हो, जिसमें सब लोग अपने फर्ज को पूरा करने की कोशिश करें। अतः, शिक्षा का प्रयोजन एक ऐसे व्यक्ति का विकास करना होगा जो इस तरह की संस्कृति में सहभागी हो सके। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में शिक्षा की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि शिक्षा संस्कृति में बालक के प्रवेश की प्रक्रिया है। गांधी यही कह रहे हैं कि यदि संस्कृति नैतिक चेतना है तो बालक के प्रवेश की प्रक्रिया के लिए भी उसमें नैतिक जागृति पैदा करने की आवश्यकता है।

प्रश्न : लेकिन गांधी जब आधुनिक सभ्यता की बात करते हैं तो कहते हैं कि वह धर्म से विमुख होती चली जा रही है। ईश्वर से विमुख होती जा रही है। धर्म को आजकल जिस तरह समझा जाता है उसमें पारलौकिक सत्ताओं की मान्यता निहित होती है। क्या यह आज के हमारे वांछित धर्म निरपेक्ष, सेक्युलर, समाज के लिए उपयोगी दृष्टि होगी ?

उत्तर : देखिए, आजकल आप जब समाज को धर्म निरपेक्ष कहते हैं तो वह सेक्युलर नहीं है। वह सर्वधर्म समभाव वाला समाज है। सेक्युलर का अर्थ होता है लौकिक। एक राज्य लौकिक हो सकता है, समाज लौकिक नहीं होता। क्योंकि जो सभी धर्म हैं, उनमें लोगों की आस्था है और आप भी यह मानते हैं कि जब तक वे दूसरे के रास्ते या धर्म में हस्तक्षेप न करें तब तक उनको अपनी-अपनी आस्था के अनुसार चलने का अधिकार है। इसलिए समाज सेक्युलर नहीं होता है। हम राज्य व्यवस्था को सेक्युलर चाहते हैं। पश्चिम में सेक्युलरिज्म का जो आन्दोलन चला वह दरअसल राज्य के ऊपर धार्मिक तंत्र या चर्च के दबाव के चलते हुआ था। यह एक धार्मिक (थियोक्रैटिक) राज्य के मुकाबले में सेक्युलर राज्य की अवधारणा है, सेक्युलर समाज की कोई अवधारणा नहीं है। सेक्युलर व्यक्ति का मतलब ही तब यह होता है कि वह किसी भी व्यक्ति के धर्म में हस्तक्षेप नहीं करता है। मैं अपने हिसाब से इन अर्थों में गांधी को सेक्युलर मानता हूँ कि वे सर्वधर्म समभाव को मानते हैं और राज्य को एक सेक्युलर संस्था के रूप में देखना चाहते हैं।

जब हम कहते हैं कि ईश्वर में आस्था समाप्त हो गई है तो, देखिए, आस्था के कई रूप हैं। ऐसे भी धर्म हैं जो ईश्वर को नहीं मानते; जैसे कि, जैन धर्म है, बौद्ध धर्म है। इसके बावजूद भी वे धर्म हैं। क्योंकि उनकी किसी एक तरह की मूल्य दृष्टि में आस्था है। आपने जिसे पारलौकिक कहा इसे लोकोत्तर कह सकते हैं, उसमें उनकी आस्था है। वह आस्था अभी तक मनुष्य समाज में पूरी तरह से है और मनुष्य को किसी न किसी आस्था की आवश्यकता रहती है। अगर वह आस्था किसी विचार में हो, तो भी वही बात है और अगर वह आस्था किसी व्यक्ति में हो तो भी वही बात है या किसी आलौकिक सत्ता में हो तो भी वही बात है। क्योंकि वह आस्था मनुष्य को जीने में सम्बल और ताकत देती है। इन अर्थों में जब गांधी ईश्वर से विमुख होने की बात कहते हैं तो वे ईश्वर की परिभाषा क्या देते हैं, इसे समझने की जरूरत है। आप उनके ईश्वर शब्द पर तो जाते हैं, पर वे कहते हैं कि सत्य ही ईश्वर है। किसी जमाने में उन्होंने कहा था कि ईश्वर सत्य है, पर बाद में उन्होंने उसको उलट दिया और कहा कि नहीं, मैंने गलत कहा था। मैं यह मानता हूँ कि सत्य ही ईश्वर है। सत्य में किसकी आस्था नहीं होगी ? जब वे कहते हैं कि यह सभ्यता ईश्वर से विमुख हो रही है तो हमें यह मानना चाहिए कि वे यह कह रहे हैं कि यह सभ्यता सत्य से विमुख हो रही है। जहां तक सत्य में आस्था का सवाल है, तो इसे तय करिए कि सत्य लौकिक है या अलौकिक ? लेकिन आस्था सत्य में होनी चाहिए, निष्ठा सत्य में होनी चाहिए। गांधी इसकी बात कर रहे हैं।

पश्चिम की सभ्यता की आलोचना वे इसलिए कर रहे हैं क्योंकि जिसे वे सत्य मानते हैं, उससे वे विमुख हो रहे हैं। मान लीजिए, अधिकतर पश्चिम ईसाई है। ईसाईयत में सत्य प्रेम है। अगर आप ईसाईयत के हिसाब से देखें तो वहां सत्य प्रेम के रूप में व्यक्त होता है। ईश्वर प्रेम के रूप में अभिव्यक्त होता है। क्या वह सभ्यता प्रेम से विमुख नहीं होती जा रही है ? अगर वह सभ्यता प्रेम से विमुख होती जा रही है तो इसका अर्थ है कि वह ईश्वर से विमुख होती जा रही है, उनकी अपनी ईसाईयत की दृष्टि से। ऐसा नहीं है कि सभी ईसाइयों ने चर्च जाना छोड़ दिया या उन्होंने अपने को ईसाईयत से अलग घोषित कर दिया है। लेकिन वे प्रेम को छोड़ चुके हैं। यानी कि सत्य को छोड़ चुके हैं। आधुनिक सभ्यता का सारा ढांचा प्रेम पर आधारित नहीं है। इसलिए हम कह सकते हैं कि वह ईश्वर से विमुख होती जा रही है। भारतीय सभ्यता, जिस समय गांधी जी यह पुस्तक लिख रहे थे, उसकी तुलना में मैं समझता हूँ आज अधिक विमुख है, उस समय कम विमुख थी। यद्यपि उस समय हम गुलाम थे और लड़ रहे थे। लेकिन उस समय एक आस्था, एक सामाजिकता का भाव लोगों में मौजूद था; जो आज क्रमशः कम होता चला जा रहा है। आज हम ज्यादा मात्रा में पश्चिम की तरफ,

ऐसी सभ्यता की तरफ जो ईश्वर या सत्य से विमुख होती जा रही है, उसकी तरफ बढ़ रहे हैं। अतः हमारी भी वही स्थिति होने वाली है, जैसी वहां की स्थिति है। गांधी इसके प्रति हमें सचेत करते हैं और जिस हिन्दुस्तान की सभ्यता की वे तारीफ कर रहे हैं, वह हिन्दुस्तान की सभ्यता, जैसा कि मैंने कहा, एक आदर्श दृष्टि की सभ्यता है। उस दृष्टि से गांधी को ईसा से भी कोई समस्या नहीं है। वे ईसा की दृष्टि को भी सही मान लेंगे और मोहम्मद की दृष्टि को भी सही मान लेंगे। लेकिन जब वे पश्चिम की आधुनिक सभ्यता कहते हैं तो वह सभ्यता है जो स्वयं ईसाईयत के मूल्यों से विमुख हो चुकी है।

प्रश्न : 'हिन्द स्वराज' में गांधी महाराज गायकवाड के द्वारा शिक्षा के लिए किए जा रहे प्रयासों की आलोचना करते हुए कहते हैं, हालांकि वे उसकी इज्जत करने की बात भी करते हैं, कि इस शिक्षा से हमें कुछ खास हासिल होने वाला नहीं है। इसी तरह मैकाले की शिक्षा नीति का भी विरोध करते हैं। क्या यह उनका सार्वभौम शिक्षा व्यवस्था का विरोध था ? क्योंकि हम यह तो मानेंगे कि सभी को शिक्षा मिलनी चाहिए। उनकी इनकी इस आलोचना को कैसे समझें ? क्या इसमें प्रचलित शिक्षा से किसी तरह की भिन्न दृष्टि निहित थी ?

उत्तर : देखिए, जब एक बार यह समझ लेते हैं कि शिक्षा से उनका तात्पर्य क्या है, तो वह शिक्षा सार्वभौम होनी चाहिए और सभी को मिलनी चाहिए। शिक्षा से उनका जो तात्पर्य है, वह तो सभी को मिलनी चाहिए। इसलिए आप यह नहीं कह सकते कि सार्वभौम शिक्षा से उनका विरोध है। उनका विरोध उस शिक्षा से है जो कि दी जा रही है। मैं आपसे यह पूछता हूँ कि ऐसा कौनसा शिक्षाशास्त्री है, जो अभी दी जा रही शिक्षा का समर्थक है ? अगर अभी दी जा रही शिक्षा का समर्थक स्वयं आधुनिक शिक्षाशास्त्री भी नहीं है तो यदि गांधी जी यह कहते हैं कि यह शिक्षा सही शिक्षा नहीं है, तो इसमें क्या दिक्कत है ? इसके बाद वे सही शिक्षा की अपनी परिभाषा देते हैं और उस सही शिक्षा को सभी को देना चाहते हैं। लेकिन हम किसी को साक्षर बनाकर, गांधी जी यह नहीं कहते हैं कि साक्षरता कोई बुरी चीज है, क्या हासिल कर लेंगे ? हम साक्षरता को शिक्षा मान लें, यद्यपि इससे व्यक्ति में सृजनात्मकता विकसित हुई या नहीं, उसमें फर्ज के निर्वाह का दायित्व विकसित हुआ या नहीं, यह हम नहीं देखें तो ऐसी शिक्षा तो शिक्षा नहीं ही मानी जाएगी। वह तो केवल साक्षर करना ही माना जाएगा या केवल कुछ चीजों की जानकारी देना ही माना जाएगा। ऐसी स्थिति में गांधी जी उचित ही कहते हैं। मैं समझता हूँ कि आप लोग भी ऐसी शिक्षा को शिक्षा नहीं कहेंगे।

प्रश्न : गांधी जी के शिक्षा चिन्तन ने शारीरिक श्रम का विशेष महत्त्व है। गांधी जी द्वारा शिक्षा में शारीरिक श्रम को दिए स्थान को लेकर कुछ लोगों का कहना है कि यह ज्ञान की प्रचलित ब्राह्मणवादी परंपरा के लिए एक चुनौती थी। शारीरिक श्रम के प्रति सम्मान एक दृष्टि है, लेकिन जिस रूप में इसे बुनियादी शिक्षा में लागू किया गया, क्या वही एक दृष्टि हो सकती है ?

उत्तर : देखिए, एक तो इस ब्राह्मणवाद शब्द पर थोड़ा विचार करना चाहिए। जिसे आप ब्राह्मणवादी शिक्षा कहते हैं, मुझे नहीं पता कि इसका सही अर्थ क्या है, लेकिन मैं इस शब्द के प्रयोग से अनुमान लगाता हूँ। यदि मैं इसकी व्याख्या करूँ तो, मैं यह कहूँगा कि शिक्षा में श्रम का महत्त्व सदैव था। क्योंकि यह शिक्षा जिन आश्रमों में दी जाती थी, उनमें बालकों से लगातार श्रम करवाया जाता था। जहां भी सारे बड़े-बड़े ऋषियों के आश्रमों का वर्णन मिलता है या गुरुकुलों का वर्णन मिलता है, उन गुरुकुलों में लगातार कोई न कोई शारीरिक श्रम प्रत्येक बालक को करना पड़ता था और वह उसकी शिक्षा प्रक्रिया का एक हिस्सा था। यह ठीक है कि अन्ततः ज्ञान ही प्रमुख था और ज्ञान का अर्थ कहीं भी भारतीय परंपरा में जानकारी नहीं है। आजकल आप जिसे ज्ञान कहते हैं वह भारतीय परंपरा में ज्ञान नहीं कहलाता है।

भारतीय परंपरा में ज्ञान सदैव अनुभूतिपरक है। केवल जानकारी देना तो उस अनुभूति के लिए बालक समर्थ हो सके, इसकी एक तैयारी करवाना था। ऐसा नहीं था कि किसी चीज के बारे में जानने से आप ज्ञानी हो गए। यहां तक कि शंकराचार्य, जिन्हें ज्ञानमार्गी कहा जाता है, वे कहते हैं कि ज्ञान सदैव अनुभूति है। जैन

दर्शन तो आत्म या जीव को ज्ञान स्वरूप मानता है। वह मानता है कि अन्ततः ज्ञान अनुभूति से ही है। अतः ज्ञान का अर्थ यहां अनुभूति से है कि, आप अपने होने की कैसी अनुभूति करते हैं। इन अर्थों में श्रम सदैव ही संपूर्ण भारतीय परंपरा में शिक्षा प्रक्रिया का एक हिस्सा रहा है। इसको आप ब्राह्मणवादी कहें या इसको आप श्रमणवादी कहें, लेकिन श्रमण आश्रमों या बौद्ध विहारों में भी जो शिक्षा दी जाती थी; उसमें विद्यार्थी को ज्ञान के अर्जन के साथ निरन्तर श्रम करना होता था। इसमें अगर गांधी श्रम का महत्त्व प्रतिपादित करें तो यह कोई नई बात नहीं है। बल्कि सच बात तो यह है जिसे आप पश्चिमी शिक्षा या आधुनिक शिक्षा कहते हैं, उसमें श्रम का महत्त्व बिल्कुल नहीं है। अगर ब्राह्मणवादी शिक्षा का इस्तेमाल नकारात्मक अर्थों में करना चाहें तो उस आधुनिक शिक्षा को मूलतः ब्राह्मणवादी कहना चाहिए, जो केवल जानकारीपरक ज्ञान को महत्त्व देती है और श्रम को महत्त्व नहीं देती है।

आज हम स्कूलों में कोई श्रम नहीं करवाते हैं। हम बच्चों को केवल जानकारी देते हैं। पहली कक्षा से लेकर पी.एच.डी. करवाने वाले विश्वविद्यालयों तक में विद्यार्थी धीरे-धीरे श्रम से विमुख होते चले जाते हैं। श्रम से विमुख होने का मतलब है मनुष्य का परजीवी हो जाना, मनुष्य का दूसरों पर आश्रित हो जाना। श्रम से विमुख होने का मतलब है समाज में एक ऐसा वर्ग पैदा करना भी है जो केवल श्रम करेगा, जिसका ज्ञान से कोई लेना-देना नहीं होगा। गांधी की शिक्षा इसके बिल्कुल विपरीत थी। वे प्रत्येक व्यक्ति से श्रम की मांग करते हैं। जिसका अर्थ यह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञान भी अर्जित करना चाहिए। गांधी की शिक्षा इसकी भी मांग करती है। इन अर्थों में गांधी की शिक्षा श्रम और ज्ञान के बीच, यदि ये दोनों अलग हैं तो, मेरी राय में तो अलग नहीं होने चाहिए; एक संतुलन कायम करने की कोशिश करती है। अगर इन दोनों को अलग भी माना जाए तो गांधी की शिक्षा एक संतुलन, दोनों में एक समन्वयन कायम करने की कोशिश करती है। जबकि जिसे आप आधुनिक शिक्षा कहते हैं वह केवल ज्ञानपरक है यानी जानकारीपरक ज्ञान है। मैं जिन अर्थों में बात कर रहा हूं वह वास्तविक अर्थों में अनुभूतिपरक भी नहीं है और श्रमपरक तो बिल्कुल भी नहीं है। अतः ब्राह्मणवादी शिक्षा तो यह शिक्षा हुई, अगर आप ब्राह्मणवाद से यह सूचनापरक ज्ञान वाला अर्थ लगाते हैं। गांधी जिस शिक्षा की बात कर रहे हैं वह ब्राह्मणवादी नहीं हुई।

प्रश्न : गांधी जी के शिक्षा चिन्तन का एक विरोध चरखे के प्रयोग को लेकर हुआ है। गांधी जी कहते हैं कि हर एक व्यक्ति को श्रम करना चाहिए। हर व्यक्ति को, चाहे वह डॉक्टर हो या वकील, श्रम करना चाहिए और चरखा कातना चाहिए। शिक्षा में चरखे का विरोध रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जोरदार तरीके से किया। टैगोर कहते हैं कि यह शिक्षा को सीमित कर देना है। वे कहते हैं कि शिक्षा द्वारा बच्चे के और बहुत से पक्षों को विकसित किया जाना होता है जिसमें कि ज्ञान, सौन्दर्य और संवदेनशीलता भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। गांधी के चरखे के स्थान को शिक्षा में किस तरह देखा जाना चाहिए ?

उत्तर : देखिए, गांधी जी जब चरखे की बात करते हैं तो वे दरअस्त ग्राम आधारित उद्योगों की बात कर रहे हैं और एक अर्थ व्यवस्था का खाका उनके दिमाग में है। वे यह चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-निर्भर होना चाहिए, जिसका तात्पर्य है कि जहां तक सम्भव हो प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुनियादी जरूरतों को स्वयं पूरा कर सके और इसके लिए उसमें योग्यता पैदा की जानी चाहिए। इन अर्थों में चरखा उसका एक अंग है कि वह अपने वस्त्र स्वयं बुन सके। अगर प्रत्येक व्यक्ति अपना वस्त्र बुन सके तो आपको बड़ी मिलों की आवश्यकता नहीं होगी। दूसरे, जब मेनचेस्टर की मिलों का कपड़ा हिन्दुस्तान में आ रहा था और गांधी थोड़े अर्से बाद एक आंदोलन चलाने वाले थे, जिसको हम सविनय अवज्ञा आंदोलन या असहयोग आन्दोलन कहते हैं। उस पश्चिमी औद्योगीकरण से मुक्त होने के लिए भी यह आवश्यक था कि अपने स्वदेशी उद्योगों पर जोर दिया जाए और चरखा इसका एक प्रतीक भर नहीं होकर उसका एक अंग है। वस्तु के रूप में उसका एक अंग है और विचार के रूप में उसका एक प्रतीक है। इस कारण गांधी का आग्रह एक स्व-निर्भर व्यक्ति, आत्म-निर्भर गांव, जो ग्राम स्वराज की परिभाषा में आता है, बनाने के प्रयास में चरखे का समर्थन करते

हैं। रवीन्द्रनाथ टैगोर जब चरखे का विरोध करते हैं, चरखे का विरोध और बहुत से लोगों ने किया है, तो वे यह कहते हैं; चरखा एक सौंदर्य दृष्टि पैदा नहीं करेगा। क्यों नहीं करेगा ? क्या चरखे से बुना जाने वाला कपड़ा मिल में बुने कपड़ों की तुलना में कम सुन्दर होता है ? स्वयं जिस बंगाल में रवीन्द्रनाथ थे, उस बंगाल में कितना अच्छा कपड़ा इन्हीं चीजों से बुना जाता था, जिसका इतिहास हम सब लोग जानते हैं। यह कोई कल्पना नहीं है, यह कोई मिथक नहीं है। इसके प्रमाण हमारे पास उपलब्ध हैं। अभी भी वहां कपड़े का बहुत सुन्दर काम होता है, क्या इसे रवीन्द्रनाथ सुन्दर नहीं मानेंगे ?

चरखे या तकली को चलाने से जो एकाग्रता आती है, वह एकाग्रता क्या सौंदर्यपरक नहीं है ? वह एकाग्रता क्या व्यक्ति को अपने अन्दर नहीं ले जाती है ? रवीन्द्रनाथ की दृष्टि में सौंदर्य का क्या अर्थ है ? स्वयं रवीन्द्रनाथ के लिए भी सौंदर्य केवल बाहर नहीं है। सौंदर्य अंततः, यदि सौंदर्यशास्त्र या कलात्मकता के अर्थ में हम इसे लें तो, प्रत्येक कला, मनुष्य को अपने आत्म से साक्षात्कार करवाती है, अपने अन्दर ले जाती है। अगर चरखा यह काम करता है तो वह सुंदरता का काम भी करता है। अर्थात् सौंदर्य एक मूल्य के रूप में काम कर रहा है। इसे समझने की जरूरत थी, जिसे शायद उस समय रवीन्द्रनाथ नहीं समझ पाए।

सवाल यह है कि हम किस तरह की शिक्षा चाहते हैं। रवीन्द्रनाथ एक आश्रम की तरह शिक्षा देते थे, जिसमें पेड़ों के नीचे बैठकर शिक्षा दी जाती थी। एक गुरुकुल के तरीके से वे शिक्षा देते थे। श्री अरविंद या मदर का शिक्षा का जो विचार था, उसमें क्या था ? वैकल्पिक शिक्षा के जितने भी प्रयत्न हुए हैं, वे मूलतः आज की आधुनिक शिक्षा के असन्तोष की वजह से हुए हैं। यह सही है कि सभी के बीच थोड़े-थोड़े भेद हो सकते हैं। लेकिन सभी मूलतः मनुष्य के व्यक्तित्व को विकसित करना चाहते हैं और यह चाहते हैं कि उसको केवल ऐन्द्रिक उपभोग तक सीमित नहीं रखा जाए। गांधी एक नैतिक मनुष्य चाहते हैं। वे नैतिकता को सुन्दरता का आधार मानते हैं कि रवीन्द्रनाथ एक सुन्दरता प्रेमी व्यक्ति चाहते हैं, कला प्रेमी व्यक्ति चाहते हैं। वे एक सौंदर्य बोध से परिपूर्ण व्यक्ति चाहते हैं लेकिन अनैतिक व्यक्ति तो वे भी नहीं चाहते हैं। इसका मतलब साफ है कि रवीन्द्रनाथ की मान्यता यह लगती है कि नैतिकता में सौंदर्य नहीं रहेगा, जिसकी बात गांधी कर रहे हैं। लेकिन मुझे यह लगता है कि सौंदर्य और नैतिकता समन्वित बोध नहीं हैं तो फिर अकेला सौंदर्य किस काम का है ? फिर तो सौंदर्य केवल उपभोग की एक चीज है वह अनुभूति नहीं बनता।

प्रश्न : लेकिन हम देखते हैं कि गांधी जी की बुनियादी शिक्षा का अनुभव यह रहा है कि वह नहीं चल पाई। इसे कैसे देखा जाना चाहिए ? वह असफल रही।

उत्तर : हां, यह बात आप ठीक कह रहे हैं कि बुनियादी शिक्षा नहीं चली। असफल हुई, मैं यह नहीं कह रहा हूं। उसका कारण साफ है। अगर आप शिक्षा और समाज की व्यवस्था को अलग-अलग कर देंगे तो वह शिक्षा नहीं चलेगी। लेकिन आजादी के बाद जो भी समाज हमने बनाया या जो बनाना चाहा, आज भी हम जैसा बना रहे हैं, वह बड़ी मशीनों पर आधारित समाज है। बड़े उद्योगों पर आधारित समाज है। ऐसे समाज में बुनियादी शिक्षा नहीं चल सकती थी। क्योंकि बुनियादी शिक्षा मूलतः एक ऐसी शिक्षा थी जो बच्चे को शुरू से एक ऐसे काम में लगा देती है, जिसमें वह शिक्षा भी ग्रहण करता जाए और एक काम भी सीखता जाए। अभी जो हमारी शिक्षा पद्धति चल रही है, जैसा कि थोड़ी देर पहले बात हुई, पहले वह बच्चे को ज्ञान देती है, फिर ट्रेनिंग देती है और फिर उसे उद्योग में भेजती है। यदि हम चाहते तो बुनियादी शिक्षा से यह काम भी लिया जा सकता था। लेकिन वह उस मूल्य दृष्टि के खिलाफ होता जिसे कि बुनियादी शिक्षा स्वीकार करती है या जिसके ऊपर आधारित है। इस कारण मैं यह नहीं मानता कि बुनियादी शिक्षा असफल हुई है। मैं यह मानता हूं कि हमने जिस तरह का समाज बनाना चाहा, वह बुनियादी शिक्षा नहीं बना सकती थी। बुनियादी शिक्षा वही समाज बना सकती थी जो गांधी बनाना चाहते थे या उनके जैसे और लोग बनाना चाहते थे। अतः, यदि आज हम वैसा समाज बनाना चाहें तो बुनियादी शिक्षा उपयोगी हो सकती है। अगर हम वैसा समाज ही नहीं बनाना चाहें तो यही माना जाएगा कि वह शिक्षा नहीं चली।

गांधी जी के नाम पर, क्योंकि उनके प्रति केवल एक श्रद्धा प्रदर्शित करनी थी इसलिए, गरीब बस्तियों में वैसे ही स्कूल खोल दिए गए। जरूरत गरीब बस्तियों में वैसे विद्यालय खोलने की नहीं थी। जरूरत अमीर बस्तियों में वैसे विद्यालय खोलने की थी ताकि समाज में जो फर्क है, भेद है, विषमता है, उसको मिटाने में भी शिक्षा कारगर हो सके। लेकिन हमने ऐसा नहीं किया। हमने जैसा समाज बनाया है उसमें तो बुनियादी शिक्षा नहीं चल सकती।

प्रश्न : आज के समय में गांधी के शिक्षा-चिन्तन और बुनियादी शिक्षा के आधार पर किस तरह की रूपरेखा उभर सकती है ?

उत्तर : हां, यदि ऐसा हम सोचें तो रूपरेखा तो बन सकती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। लेकिन अगर हम उसके बिल्कुल विपरीत ही समाज बनाना चाहें तो कारगर नहीं है।

प्रश्न : लेकिन गांधी जी जिस समय में बुनियादी शिक्षा की बात कर रहे थे, उससे तो आज परिस्थितियां बहुत ही विपरीत हैं।

उत्तर : यह सही है कि अभी तो उसके बिल्कुल विपरीत समाज है। लेकिन हम वैसा समाज बनाना चाहें और वैसी शिक्षा देना चाहें तो इसके तरीके खोजे जा सकते हैं। क्योंकि बुनियादी शिक्षा की बुनियादी दृष्टि है-श्रम और ज्ञान का मेल। दूसरा यह कि, वह श्रम और ज्ञान स्थानीय परिस्थितियों में लागू किए जा सकने योग्य होना चाहिए। ताकि प्रत्येक व्यक्ति, जो ज्ञान प्राप्त कर रहा है, उन परिस्थितियों में उसका उपयोग भी कर सके। उसकी उपयोगिता भी हो। अगर हम एक आत्मनिर्भर गांव वाला समाज बनाना चाहें या ग्राम स्वराज्य वाला गांव बनाना चाहें तो आज भी उसके बारे में सोचा जा सकता है। पर हम ऐसा न बनाना चाहें तो वह शिक्षा क्या कर लेगी।

प्रश्न : लेकिन गांधी जैसा समाज बनाना चाहते थे वह तो अभी की परिस्थितियों में लगभग नामुमकिन-सा ही हो गया है। क्या उस तरफ लौटा जा सकता है ?

उत्तर : नहीं, ऐसा नहीं है। मैं नहीं मानता कि नामुमकिन हो गया है। मैं ऐसा इसलिए नहीं मानता कि एकदम से सब छोड़ने की जरूरत नहीं है। समाज में कोई भी परिवर्तन ऐसा नहीं होता कि आप सब कुछ एकदम से बदल दें। लेकिन जो समस्याएं हमें महसूस हो रही हैं, उस तरफ भविष्य में जाना बन्द कर दें और धीरे-धीरे अपने नए प्रयोग को लागू करना शुरू करें तो सही दिशा में आया जा सकता है। लौटना शब्द का प्रयोग तो मैं नहीं करूंगा लेकिन इस तरफ आया जा सकता है।

प्रश्न : गांधी जी औद्योगीकरण और पूंजीवाद का घनघोर विरोध करते हैं और हम देखते हैं कि ये आज अपने चरम पर हैं।

उत्तर : क्या आप औद्योगीकरण और पूंजीवाद को उचित मानते हैं ? ये आज अपने चरम पर हैं लेकिन ये तो और भी आगे बढ़ सकते हैं। मनुष्य और भी ज्यादा इनका शिकार हो सकता है। इसलिए अगर इनका बढ़ना रोक दिया जाए तो धीरे-धीरे ये स्वयमेव ही नष्ट हो जाएंगे।

प्रश्न : क्या आपको इस तरह की आशा नजर आती है ?

उत्तर : मुझे लगता है कि मनुष्य के बचाव का और कोई रास्ता ही नहीं है। मैं केवल गांधी की दृष्टि की ही बात नहीं कह रहा हूं। मैं बात कर रहा हूं, एक अहिंसा दृष्टि की। मैं बात कर रहा हूं एक शांति और सत्य का जीवन जीने की। यदि मनुष्य की उस तरह का जीवन जीने की लालसा बाकी है तो आपको इस तरफ बढ़ना होगा और अगर उस तरह के जीवन की लालसा ही नहीं, यदि मानव समाज अपने को नष्ट करने की तरफ बढ़ते चले जाना उचित मानता है तो फिर कोई चारा नहीं है।

मैं यह कह रहा हूं कि जितना उपभोग अभी हो रहा है, उस उपभोगपरकता को भी अभी संयमित किया जाए,

यदि हम एक ऐसी शिक्षा दें जो मनुष्य को अनावश्यक उपभोग करने से रोकती हो या उसको यह सिखाती हो कि यह सब जीवन जीने के लिए आवश्यक नहीं है तो भी बहुत-सी समस्याओं से हम बच सकते हैं। यदि शिक्षा यह सिखाए कि जीवन जीने के लिए जितना आवश्यक है उतना उपभोग हमको करना चाहिए तो हम उस तरफ बढ़ सकते हैं।

यदि हमने अपनी उपभोगपरकता पर नियंत्रण नहीं किया तो पर्यावरण थोड़े समय में हमको सिखा देगा कि कितना उपभोग होना चाहिए। जिस तरह से प्राकृतिक संसाधन नष्ट किए जा रहे हैं, वे खुद ही बता देंगे; अभी नहीं तो 50 या 100 साल में बता देंगे कि अब हमें क्या करना है। और ज्यों ही उपभोग कम होगा, त्यों ही उत्पादन कम होगा क्योंकि वह उत्पादन किसी काम नहीं आएगा। और ज्यों ही उत्पादन कम होगा त्यों ही बड़े उद्योगों में अपने आप कमी आनी शुरू हो जाएगी। यह एक सीधी प्रक्रिया है। सारा औद्योगीकरण उपभोग को बढ़ाने पर आश्रित है। वह मशीनों पर आश्रित नहीं है। मशीनें तो जरूरत के मुताबिक अविष्कृत की गई हैं। लेकिन वह मूलतः उपभोग को बढ़ाने पर आश्रित है, कृत्रिम मांगों को बढ़ाने पर आश्रित है। अगर समाज उसको बढ़ाना कम कर देता है, उसको रोक देता है, उसमें धीरे-धीरे कमी लाना शुरू कर देता है; तो इन समस्याओं से बहुत हद तक छुटकारा पाया जा सकता है। मैं मानता हूँ कि यह कोई मुश्किल काम नहीं है। यह एक तरह की शिक्षा के माध्यम से भी किया जा सकता है। अगर यह सब होना शुरू हो जाए तो मैं समझता हूँ कि औद्योगीकरण एवं बड़ी मशीनों और पूंजीवाद की कोई जरूरत नहीं रहेगी। वे स्वयमेव ही अपनी मौत खुद मर जाएंगे।

मार्क्स की यह एक बुनियादी मान्यता है कि सारे समाज का ढांचा मूलतः उत्पादन के साधनों पर निर्भर करता है। उत्पादन के साधनों से उत्पादन संबंध बनते हैं। यह समाज का आधार (बेस) है और बाकी राजनैतिक व्यवस्था, समाज व्यवस्था और धर्म आदि सभी अधि-रचना (सुपर स्ट्रक्चर) हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अगर आप एक ऐसा समाज बनाना चाहते हैं जो न्यायपूर्ण हो, अहिंसक हो - मैं अहिंसक और न्यायपूर्ण में भेद नहीं करता हूँ, अगर आप एक ऐसा समाज बनाना चाहते हैं जो शान्ति चाहता हो तो आपको ऐसे उत्पादन के साधनों का इस्तेमाल करना पड़ेगा या उनका अविष्कार करना पड़ेगा जो स्वयमेव आपको अहिंसा की ओर ले जाते हों और जो स्वयमेव आपको न्याय की ओर ले जाते हों। अगर हम यह मान लेते हैं तो गांधी जिस रास्ते की बात कर रहे हैं, जिस तरह के उत्पादन के साधनों की बात कर रहे हैं; वे उत्पादन के साधन स्वयमेव समाज को उस तरफ ले जाएंगे। लेकिन यदि आप ऐसे उत्पादन के साधनों की बात कर रहे हैं जिनमें केन्द्रीकरण स्वभाविक है, जिसमें पूंजी की आवश्यकता है तो इससे पूंजीवाद ही पैदा होगा और सत्ता का केन्द्रीयकरण भी पैदा होगा। बड़ी मशीन है तो अर्थ सत्ता का केन्द्रीकरण होगा। मार्क्स के विश्लेषण के हिसाब से अर्थ सत्ता और राज्य सत्ता को भी हम अलग-अलग नहीं कर सकते। अतः अर्थ सत्ता के केन्द्रीयकरण के साथ ही राज्य सत्ता का भी केन्द्रीकरण होगा। लेनिन ने जब केन्द्रीकृत लोकतंत्र की बात की थी तो यह मजबूरी थी, और कुछ हो नहीं सकता था। लेकिन लोकतंत्र कभी केन्द्रीकृत हो नहीं सकता। लोकतंत्र में हमेशा जितनी ज्यादा सहभागिता होगी, जितना ज्यादा विकेन्द्रीकरण होगा, उतना ही अधिक लोकतंत्र होगा। इसलिए यदि आप वास्तविक लोकतांत्रिक समाज चाहते हैं, वास्तविक अहिंसक समाज चाहते हैं तो आपको वैसी ही मशीनें चाहिए, वैसी ही उत्पादन के साधन चाहिए, वैसा ही उपभोग चाहिए। यदि इस तरह देखें तो गांधी मार्क्सवादी दृष्टि से भी सही नजर आते हैं।

प्रश्न : लेकिन मार्क्सवाद के अनुसार तो समाज जिस तरह आगे बढ़ रहा है, पूंजीवाद उसका एक अनिवार्य चरण है। उसके बाद वह स्थिति आएगी। लेकिन गांधी जी...

उत्तर : सवाल यह उठता है कि यदि मार्क्सवाद यह मानता है कि जब प्रत्येक युग में परिवर्तन हुआ है, जैसे सामन्तवाद से पूंजीवादी समाज आया, पूंजीवाद से समाजवादी समाज में जाएंगे तो प्रत्येक स्थिति में उत्पादन के साधनों में परिवर्तन होता है। मैं यह पूछता हूँ कि पूंजीवाद के उत्पादन के साधनों में और जहां भी

समाजवादी समाज बनाने की कोशिश हुई-सोवियत रूस, चीन या लोकतांत्रिक समाजवाद बनाने की कोशिश की गई- उनके उत्पादन के साधनों में क्या फर्क है ? जब दोनों के उत्पादन के साधन समान हैं तो उनके नतीजे भी समान होंगे; जो कि हुए। अन्ततः चीन को भी उस तरफ जाना पड़ रहा है और सोवियत रूस तो ध्वस्त ही हो चुका है। इसका एक मतलब साफ है कि उत्पादन के साधनों में अब क्या परिवर्तन होगा ? पूंजीवाद से समाजवाद की तरफ जाने की लिए आपको उत्पादन के साधनों में परिवर्तन करना पड़ेगा। वही बात तो गांधी कह रहे हैं या लोहिया भी कुछ हद तक कहते हैं। वे केवल अर्थ व्यवस्था की बात कर रहे हैं लेकिन मैं यह कहता हूँ कि अगर आप समाज की सारी व्यवस्था बदलना चाहते हैं और एक समाजवादी समाज व्यवस्था लागू करना चाहते हैं, जिसमें केन्द्रीकरण नहीं होगा - क्योंकि केन्द्रीकरण होगा तो राज्य सत्ता होगी- मार्क्सवाद जिस समाज की कल्पना करता है उसमें राज्य सत्ता नहीं है क्योंकि वर्ग नहीं है। वर्ग क्यों नहीं है क्योंकि उत्पादन के साधनों पर सभी का अधिकार है। उत्पादन के साधनों पर सभी का अधिकार हो सके ऐसे उत्पादन के साधन कौनसे होंगे ? क्या अभी जो मशीनें चल रही हैं वे इसके असली साधन होंगे, जिनको बहु-राष्ट्रीय कंपनियां ही नियन्त्रित कर सकती हैं ? तो क्या फर्क है ? क्या मार्क्स के पास समाजवादी समाज में होने वाले उत्पादन के साधनों की कोई कल्पना है कि वे ऐसे साधन होंगे या आज के मार्क्सवादियों के पास इसकी कोई कल्पना है ? दुर्भाग्य से उनके पास ऐसी कल्पना नहीं है। दुर्भाग्य से वे इन्हीं साधनों को अपनाकर वैसा समाज कायम करना चाहते हैं, जो संभव नहीं है। खुद उनके ऐतिहासिक भौतिकवाद की दृष्टि से भी वह सम्भव नहीं है।

मैंने सोवियत रूस के विफल होने से पहले एक लेख लिखा था कि ये असफल होगा। मैंने असफल होने के पीछे का यही कारण बताया था। क्योंकि यह अन्ततः पूंजीवाद के साधनों को अपनाकर चल रहा है। ये सत्ता की ताकत से अपने को टिकाए हुए है और किसी भी दिन विस्फोट हो सकता है। यह उसी तरह है जैसे, किसी मकान की की नींव उसके अनुरूप नहीं हो और आप बल्लियों के आधार पर मकान खड़ा रखना चाहें तो वह कितने दिन टिकेगा ? ऐसा ही चीन में हुआ। जब सोवियत रूस असफल हुआ तो 'धर्मयुग' ने एक अंक निकाला था कि यह असफल क्यों हुआ, ध्वस्त क्यों हुआ। धर्मयुग का संपादन उन दिनों गणेश मंत्री कर रहे थे। उन्होंने मुझे कहा कि, "तुमने यह बात पहले भी कही थी कि ऐसा होने की सम्भावना है और जब यह हो गया है, तब तुम इसे कैसे देखते हो ?" तब उस अंक के लिए मैंने एक लेख लिखा था। उसका शीर्षक मैंने टी. एस. एलियट की एक लाइन से लिया था, 'इन माइ बिगनिंग वाज माई एण्ड'; 'मेरे प्रारम्भ में ही मेरा अन्त'। सोवियत रूस के साथ यह एक समस्या थी। अगर आप एक समतामूलक समाज बनाना चाहते हैं तो उत्पादन के साधन भी समतामूलक ही होने चाहिए। जो साधन स्वयमेव ही एक केन्द्रीकरण की कल्पना करते हों, जो पूंजी के केन्द्रीकरण की कल्पना करते हों, प्रबंधन के केन्द्रीकरण की कल्पना करते हों उसमें यह कैसे हो सकता था ? दूसरे यह कि मार्क्स या एंगेल्स ने कुछ नहीं कहा कि समाजवादी समाज में उत्पादन साधन कैसे होंगे। तकनीक के विकास का यह मतलब नहीं है कि उसको और केन्द्रीकृत करते चले जाएं। एक समतामूलक और लोकतांत्रिक समाज के विकास की दृष्टि से उसका मतलब है उत्पादन के साधनों का अधिकाधिक विकेन्द्रीकृत होना- जिसे गांधी स्वदेशी और शुमाकर, पमफोल्ड, लोहिया आदि समुचित तकनीक- एप्रोप्रिएट टेक्नॉलोजी कहते हैं। नाम कुछ भी दें, मूल बात है उत्पादन के ऐसे साधन जो विकेन्द्रीकृत और समता मूलक उत्पादन संबंधों का आधार बन सकें। वही वास्तविक लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था का भी आधार हो सकेगी। गांधी की शिक्षा-दृष्टि की पृष्ठभूमि में ऐसे ही समाज और उसके आधारभूत उत्पादन के साधनों और संबंधों की अवधारणा है। ♦